इसी तरह नागार्जुन की एक और रचना है जो कि देश की एकता और अखंडता पर आधारित है:-

“खेत हमारे भूमि हमारी सारा देश हमारा है।
इसीलिए तो हमको इसका चप्पा चप्पा प्यारा है।।

उद्देश्य:-

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की आवश्यकता भारत को ही नहीं प्रत्येक देश को होती है। अपनी संस्कृति, अपना देश, अपने धरोहर, आदि की हिफाजत करने के लिए जो भाव मन में उत्पन्न होता है। वह राष्ट्रवाद राष्ट्रवाद के कारण ही है। प्रत्येक निवासी अपने देश के प्रति राष्ट्रभक्ति की भावना से कार्य करता है। इस राष्ट्रभक्ति को आगे बढ़ाने के लिए हिंदी साहित्य ने बखूबी कार्य किया है।

निष्कर्ष:-

भारतीय संस्कृति का मूल तत्व है। आध्यात्मिकता, समन्वयशीलता, विश्व बंधुत्व, कर्मण्यता,साहस, नैतिकता, संयम, त्याग और बलिदान, देशभक्ति एवं राष्ट्रीयता ये तत्व ही भारत को विश्व में विशिष्ट बनाते हैं। इन तत्वों की रक्षा के लिए सदैव से ही हिंदी साहित्य अग्रणी भूमिका निभाता रहा है। हिंदी के साहित्यकार अपनी रचनाओं के माध्यम से पथभ्रष्ट, संस्कृति च्युत एवं संकीर्ण राष्ट्रीयता के विरुद्ध अपनी लेखनी चलाकर इनमें सुधार करने का प्रयास करते रहें हैं।अपनी रचनाओं के माध्यम से साहित्यकार लोगों के हृदय में जोश और ऊर्जा का संचार कर देश की एकता, अखंडता के लिए मर मिटने के लिए तैयार करते रहें हैं। राष्ट्रवाद भारतीय संस्कृत में रचा बसा है । इसी के बल पर देश को आजादी प्राप्त हुई तथा आज अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भारतीय राष्ट्रवाद अपनी सांस्कृतिक महत्ता के कारण प्रतिष्ठित होकर सम्मान पा रहा है।

****

संदर्भ:-

1- जयशंकर प्रसाद -चन्द्र गुप्त नाटक
2- डॉ0 नगेंद्र -हिंदी साहित्य का इतिहास
3- डॉ0 गणपति चंद्र गुप्त - साहित्यिक निबंध
4- डॉ बच्चन सिंह -हिन्दी साहित्य का इतिहास
5- डॉ अशोक तिवारी - प्रतियोगिता साहित्य
6- मैथिली शरण गुप्त - भारत भारती
7- आज कल पत्रिका - जून 2015

‘शिकंजे का दर्द’ आत्मकथा में दलित महिला का यथार्थ

अमिता टेटे
डॉ. महेन्द्र कुमार वर्मा

भारतीय साहित्य में आत्मकथा एक महत्वपूर्ण विधा रही है, लेकिन दलित आत्मकथा ने इस विधा को एक नई दृष्टि, अनुभव और संवेदना से समृद्ध किया है। दलित आत्मकथा केवल किसी व्यक्ति के जीवन का बयान नहीं होती, बल्कि यह पूरे दलित समुदाय के शोषण, संघर्ष, उत्पीड़न और आत्म-साक्षात्कार की कहानी होती है। यह साहित्यिक विधा भारतीय समाज की जातीय जटिलताओं को सामने लाकर उसे चुनौती देती है। दलित आत्मकथाएँ अपने लेखक के जीवन अनुभवों पर आधारित होती हैं, इस कारण इनमें जीवन की कटु सच्चाइयाँ, सामाजिक यथार्थ और हाशिए पर खड़े समुदाय की पीड़ा गहराई से उभरती है। ये आत्मकथाएँ सवर्ण वर्चस्ववादी सोच और व्यवस्था के विरुद्ध तीव्र प्रतिरोध दर्ज करती हैं। दलित आत्मकथाएँ समाज की परंपरागत व्यवस्था की कठोर आलोचना करती हैं और ब्राह्मणवादी सोच को चुनौती देती हैं। इनमें निजी अनुभवों के माध्यम से व्यापक सामाजिक अनुभवों को प्रस्तुत किया जाता है। इनमें सहज, सजीव, अनगढ़, किंतु प्रभावशाली भाषा का प्रयोग होता है। यह शैली मुख्यधारा की साहित्यिक भाषा से भिन्न होती है, और यथार्थ के अधिक निकट प्रतीत होती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की **'जूठन'** दलित जीवन की सामाजिक हीनता, स्कूल में भेदभाव और श्रम की गुलामी को मार्मिक रूप में प्रस्तुत करती है। शरण कुमार लिंबाळे की **'अक्करमाशी'** मराठी में लिखी गयी यह आत्मकथा दलित और अछूत के रूप में लेखक के जीवन संघर्ष को दर्शाती है। बाबा साहेब अंबेडकर की **'Waiting for a Visa'** अंग्रेज़ी में लिखी गई छोटी आत्मकथा है जो जातिवाद की अमानवीयता को दर्शाती है। कौसल्या बैसंत्री द्वारा लिखी गयी **'दोहरा अभिशाप'** में एक दलित स्त्री के दोहरे उत्पीड़न– जाति और लिंग का चित्रण है। दलित आत्मकथाओं ने साहित्यिक विमर्श को एक नया मोड़ दिया है। इन्होंने मुख्यधारा साहित्य की ब्राह्मणवादी सत्ता को चुनौती दी और हाशिए के आवाज़ को मुख्य विमर्श में लाने का काम किया। साथ ही, इन्होंने दलित चेतना, आत्मसम्मान और संघर्ष को नई दिशा दी है। इसी परंपरा की अगली कड़ी है सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा ‘शिकंजे का दर्द’ जिसमें पारम्परिक सवालों के साथ दलित पुरुष को कठघरे में खड़ा करने में किसी तरह की कोताही नहीं बरती गई है। आत्मकथा में दलित पुरुष के घिनौनेपन का पर्दाफ़ाश किया गया है, जो मंच पर स्त्री के अन्याय एवं भेदभाव के खिलाफ़ आवाज उठाता है, वही पुरुष अपने घर में स्त्री के साथ भेदभाव करता है। आत्मकथा में लेखिका द्वारा शिक्षा प्राप्ति का अनवरत संघर्ष, लगन और जिद्द अनुकरणीय है। लेकिन वह चाहते हुए भी अपने पति के शिकंजे से मुक्त नहीं हो पाती है। यह आत्मकथा पुरुषसत्ता पर सवाल खड़ा करती है।

भारतीय समाज में छुआछूत और जातीय भेदभाव एक लंबे समय से व्याप्त सामाजिक बुराई रही है। यह अमानवीय प्रथा इस धारणा पर आधारित है कि कुछ जातियाँ 'शुद्ध' हैं और कुछ 'अशुद्ध'। इसी सोच ने समाज को ऊँच-नीच के खाँचों में बाँट दिया, जिससे न केवल सामाजिक एकता को ठेस पहुँची, बल्कि मानवता भी शर्मसार हुई। नीची समझी जाने वाली जातियों को लंबे समय तक मंदिरों में प्रवेश करने, सार्वजनिक जलस्रोतों का उपयोग करने, स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने और अन्य बुनियादी अधिकारों से वंचित रखा गया।

इस प्रकार के भेदभाव ने इन समुदायों को न केवल सामाजिक रूप से अलग-थलग किया, बल्कि उनके शैक्षिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास को भी बाधित किया। हालाँकि, भारत का संविधान हर नागरिक को समान अधिकार और गरिमा की गारंटी देता है। छुआछूत को अपराध माना गया है और जातीय भेदभाव को गैरकानूनी घोषित किया गया है। लेकिन, कानूनी प्रावधानों के बावजूद, आज भी देश के कई क्षेत्रों में यह समस्या किसी न किसी रूप में देखने को मिलती है। महात्मा गांधी, डॉ. भीमराव अंबेडकर जैसे महापुरुषों ने इस सामाजिक अन्याय के खिलाफ संघर्ष किया और बराबरी के समाज की स्थापना के लिए अपना जीवन समर्पित किया। परंतु केवल कानून बनाने से यह बुराई समाप्त नहीं होगी। जब तक समाज की सोच में बदलाव नहीं आएगा, तब तक जातीय भेदभाव पूरी तरह खत्म नहीं हो सकता। सुशीला टाकभौरे ने अपनी छुआछूत और जातीय भेद-भाव को अपनी आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में अभिव्यक्त किया हैI आत्मकथाकार के जीवन में छुआछूत का पहला तीखा अनुभव स्कूल में प्रवेश के साथ ही हुआ। जैसे ही उन्होंने स्कूल की देहरी पार की, भेदभाव की दीवारें उनके सामने खड़ी कर दी गईं। उन्हें कक्षा में सबसे पीछे बैठाया जाता था, मानो उनकी जाति उनकी योग्यता से ऊपर कोई दाग हो। एक दिन जब वे अनजाने में खाली पड़ी तीसरी पंक्ति में बैठ गईं, तो अध्यापक ने तुरंत डाँट लगाकर उन्हें उनके "निर्धारित स्थान" पर भेज दिया। यह महज स्थान परिवर्तन नहीं था, बल्कि उनके "स्तर" और "औकात" का सख़्त एहसास कराए जाने की शुरुआत थी। विद्यालय ही नहीं, समाज का हर कोना उन्हें यह जताने में जुटा था कि वे एक "अछूत" हैं। चपरासी तक उन्हें नीचा दिखाने में पीछे नहीं रहते थे। घर से बाहर निकलते ही एक अनदेखा बोझ उनके कंधों पर लद जाता—इस बात का बोझ कि कहीं वे किसी को छू न जाएँ। अछूत होने की इस पीड़ा को वे हर कदम पर महसूस करती थीं। स्कूल में माहौल इतना डरावना और अपमानजनक था कि उनके दोनों भाई डर के कारण बहाने बनाकर स्कूल जाने से कतराने लगे। इस सामाजिक भय और दमन ने उनकी पढ़ाई अधूरी छोड़ दी। शिक्षा से वंचित रखने की एक सोची-समझी साजिश हर ओर फैली थी। सज़ा देने के मामले में भी भेदभाव स्पष्ट था—सवर्ण बच्चों की गलती पर नरमी, जबकि दलित बच्चों को कड़ी सज़ा। दलित बालिकाएँ इन व्यवहारों को भली-भाँति समझने लगी थीं। यदि कोई दलित बच्ची अनजाने में सवर्ण बच्चे को छू लेती, तो घर पहुँचते ही उसकी माँ उसे नहलातीं, मानो कोई भारी पाप हो गया हो। इस मानसिकता का असर बालिका सुशीला टाकभौरे पर गहराई से पड़ा। वे हर समय सावधानी बरततीं कि कहीं उनकी उपस्थिति से किसी को परेशानी न हो। वे खुद को ही दूर रखना बेहतर समझतीं- ***"वे मुझसे दूर रहे, इसकी अपेक्षा मैं स्वयं उनसे दूर रहती थी, ताकि मेरे कारण किसी को तकलीफ न हो। बचपन में सिखाई बातों से यह आदत बन गई थी। सबसे अलग रहना, सबके पीछे रहना ताकि कोई मेरा अपमान न करे, मुझे बुरा न कहे, मुझे सजा न दे। मैं सिर झुकाए, अपनी स्लेट पर बार-बार लिखती और मिटाती रहती।"*** [1] बालिका सुशीला टाकभौरे के साथ छुआछूत के अनेक कटु अनुभव जुड़े हुए हैं, जो हिन्दू समाज की गहरी जातिगत मानसिकता को उजागर करते हैं। जब वह तेलन से तेल लेने जातीं, या किराने की दुकान पर सामान लेने और रुपये देने जातीं, तो उनके साथ अलगाव और घृणा का व्यवहार किया जाता। मोहल्ले की चक्की पर गेहूँ पिसवाने पहुँचना भी एक चुनौती थी, क्योंकि वहाँ उनके गेहूँ नहीं पीसे जाते थे। यह व्यवहार स्पष्ट करता है कि केवल जाति के आधार पर एक व्यक्ति को सामान्य नागरिक सुविधाओं से भी वंचित कर दिया जाता है। हिन्दू समाज में दलितों को सदैव घृणा की दृष्टि से देखा गया है। उन्हें समाज में कोढ़ी जैसे लोगों के समान 105 अछूत माना गया। इस स्थिति का वर्णन करते हुए सुशीला लिखती हैं कि- ***"कोढ़ जैसी बीमारी से पीड़ित लोग भी हमें अछूत मानकर छुआछूत करते। चोर और भिखारी भी जैसे हमसे बड़े और उच्च थे।"*** [2] । एक अन्य प्रसंग में, जब राह चलते सुशीला ने एक छोटे बच्चे को स्पर्श कर लिया, तो उसकी माँ पीछे-पीछे दौड़ती हुई इसलिए उनके पास आई ताकि वह उनकी जाति का पता लगा सकेI यह घटना समाज की जाति-प्रधान मानसिकता को दर्शाती है, जहाँ जाति पूछे बिना कोई संवाद सम्भव नहीं होता। यदि सामने वाला उच्च जाति का है तो बात सामान्य रूप से होती है, अन्यथा स्वर की कठोरता यह बता देती है कि जातीय पहचान कितनी निर्णायक होती है। इसका उल्लेख कुछ इस प्रकार है- ***"तुम कौन हो? कौन जात होकर लड़के को छुए हो?"*** [3]

हिन्दू समाज की सबसे कठोर और जटिल संरचना है — जाति व्यवस्था। यह व्यवस्था एक अदृश्य दीवार की तरह है, जो देखने में तो नहीं आती, लेकिन इसकी पकड़ इतनी गहरी है कि इससे मुक्त होना लगभग असंभव प्रतीत होता है। जाति और धर्म का सम्बन्ध ऐसा गुंथा हुआ है कि व्यक्ति के सभी सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक व्यवहार इस बंधन से संचालित होते हैं। एक दलित पिता जब किसी सवर्ण के पशु उठाने से मना करता है, तो उस पर सामाजिक प्रतिबंध लगा दिया जाता है। सिर्फ इतनी सी अवज्ञा उसे अपमान और बहिष्कार की स्थिति में पहुंचा देती है। समाज में मकान किराये पर लेने से लेकर किसी आयोजन में शामिल होने तक, हर जगह जाति सबसे पहले पूछी जाती है। ***"मकान किराये पर लेने के लिए तो जाति का अपना महत्त्व है। जाति के बिना समाज नहीं हो सकता, जाति के बिना इनसान नहीं हो सकता, जाति की जानकारी के बिना सामाजिक व्यवहार नहीं हो सकता।"*** [4] यह सोच कथित शिक्षित समाज में भी गहराई तक समाई हुई है। एक ऐसा परिवार जो जाति की बेड़ियों को तोड़कर आगे बढ़ना चाहता है, उसे मकान किराये पर लेने के लिए दोगुना किराया देना पड़ता है। फिर भी शर्तें थोप दी जाती हैं- ***"तुम्हारे रिश्तेदार यहाँ नहीं आएँगे। तुम यहाँ कोई कार्यक्रम नहीं करोगे। तुमसे पड़ोसियों को कोई परेशानी नहीं होनी चाहिए।"*** [5] यह व्यवहार इस बात का प्रमाण है कि जाति आज भी सामाजिक चेतना में जड़ जमाए हुए है। यहाँ तक कि एक भिखारी भी जाति के आधार पर भिक्षा स्वीकार करने से मना कर देता है - ***"अच्छा हुआ माताजी, आपने बता दिया। भला उनके घर का आटा कैसे लै सकता हूँ?"*** [6] यह कथन दर्शाता है कि भिक्षा जैसे क्रिया में भी जातिगत शुद्धता की भावना किस तरह घुली हुई है। सास के निधन पर घर में क्रियाकर्म करने की अनुमति नहीं दी जाती। इस कठिन घड़ी में भी कोई पड़ोसी सांत्वना के दो शब्द कहने नहीं आता। कुत्ते के मरने पर शोक जताया जाता है, पर इंसान के लिए एक भी संवेदना प्रकट नहीं की जाती। यह विडम्बना जाति की अमानवीयता की पराकाष्ठा को दर्शाती है। लेखिका का प्रश्न- ***"क्या हम कुत्तों से भी गए गुजरे हैं?"*** [7] पाठक के दिल को झकझोर देता है। सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि यह जातिवादी मानसिकता उन लोगों में भी गहराई से व्याप्त है, जो स्वयं को शिक्षित, आधुनिक और प्रगतिशील मानते हैं। जाति केवल सामाजिक व्यवहार नहीं, बल्कि मानसिक बंधन बन चुकी है, जो आज भी दलित समुदाय के जीवन को हर क्षण अपमान, असमानता और अवरोध से भर देती है। कौसल्या बैसन्त्री की *'दोहरा अभिशाप'*, उमेशकुमार सिंह की *'दुख-सुख के सफर में'* और श्यौराज सिंह 'बेचैन' की *'मेरा बचपन मेरे कंधों' पर*- इन सभी आत्मकथाओं में एक समान अनुभव उभरकर सामने आता है: शिक्षा के प्रति गहरा लगाव, कठिन परिश्रम और कुछ कर गुजरने की अदम्य इच्छा। ये आत्मकथाएँ इस बात की साक्षी हैं कि दलित समाज के बच्चों ने प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद

शिक्षा को अपनाया, क्योंकि वे जानते थे कि ज्ञान ही उनके सामाजिक उत्थान का सबसे बड़ा माध्यम है। हालाँकि, शिक्षा के इस सफर में सबसे बड़ी बाधा जातिगत भेदभाव था। शिक्षण संस्थानों में दलित छात्रों को केवल पढ़ाई में ही नहीं, बल्कि अपनी पहचान के कारण भी संघर्ष करना पड़ता था। उन्हें शारीरिक और मानसिक प्रताड़ना का सामना करना पड़ता। छुआछूत, उपेक्षा, तिरस्कार और अपमान उनका रोज़ का अनुभव था। यही कारण था कि शिक्षा उनके लिए एक सहज अधिकार नहीं, बल्कि एक सतत संघर्ष बन गई थी। फिर भी, कुछ बालक-बालिकाएँ इस अपमान और अन्याय से ऊपर उठकर शिक्षा हासिल कर पाए, क्योंकि उन्होंने अपने लक्ष्य को स्पष्ट रूप से पहचाना था और उससे कभी डिगे नहीं। आत्मकथाओं में यह स्पष्ट झलकता है कि समाज द्वारा लगाए गए सभी बंधनों को तोड़कर उन्होंने अपने आत्मबल से आगे बढ़ने की राह बनाई। *'शिकंजे का दर्द'* में वर्णित अनुभव इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। वहाँ मक्खनलाल दुबे जैसे शिक्षक व्यंग्य और उपहास से दलित बालिका की पढ़ाई पर सवाल उठाते हैं- ***"तुम क्या पढ़ सकोगी?"***[8] I साथी छात्र भी मित्रवत व्यवहार नहीं करते, बल्कि सफेद ड्रेस पर स्याही छिड़कने जैसी अपमानजनक हरकतें करते हैं। शिक्षकों का व्यवहार भी पक्षपाती था- दीक्षित सर दलित छात्रों की गलतियों पर कठोर शारीरिक दंड देते, जबकि उसी बालिका को कामुक दृष्टि से देखते। ***"श्रीवास्तव सर कक्षा में प्रश्न करते समय यह उम्मीद करते कि जवाब मुझे ही देना है। लड़कियां अगर आपस में बातें कर रही हों, तब वे मुझे ही डाँटते थे।"***[9] । यह सब कुछ मिलकर ऐसा माहौल बनाता था, जिसमें दलित बालकों को निरंतर प्रताड़ित किया जाता, ताकि वे शिक्षा से विमुख हो जाएँ। दुर्भाग्यवश, अनेक बार ऐसा होता भी रहा- बच्चे स्कूल छोड़ देते, टूट जाते। फिर भी, जो टिके रहे, उन्होंने अपने भीतर अद्भुत साहस और जिजीविषा के बल पर यह साबित कर दिखाया कि शिक्षा पर उनका भी उतना ही अधिकार है जितना किसी और का। इन आत्मकथाओं की सबसे बड़ी ताकत यही है कि वे यह दिखाती हैं कि जातिगत भेदभाव की जंजीरों में जकड़े होने के बावजूद, दलित समाज के लोग शिक्षा रूपी मुक्तिद्वार तक पहुँचने का रास्ता खोज लेते हैं। आस्था, श्रद्धा और अंधविश्वास का केन्द्र दलित, आदिवासी और पिछड़े वर्गों में अपेक्षाकृत अधिक गहराई से जड़ें जमाए हुए है। बालिका सुशीला की नानी परम्पराओं और धार्मिक विश्वासों में अटूट आस्था रखने वाली थीं, किंतु जीवन के कटु अनुभवों और विषमता से उपजे प्रश्नों ने उनकी आस्था को झकझोर दिया। धीरे-धीरे वे भगवान से बहस करती सी प्रतीत होने लगीं। यह वही नानी थीं, जो कभी नियमपूर्वक ईश्वर की स्तुति किया करती थीं, लेकिन जब जीवन में कोई सुख-सुविधा, अवसर या अधिकार नहीं मिला, तो उनका विश्वास आक्रोश में बदल गया। वे पूछने लगीं – ***"किसका भगवान? कौन-सा भगवान? कैसा भगवान?"***[10] नानी को कई बार भगवान को कोसते और गालियाँ देते सुना गया। वे कहतीं – "तेरी ठठरी बँध जाए, तेरो बुरा हो जाए, भगवान! तेरो सिंहासन डोल जाए... तेको सब भूल जाए..."। यह केवल शब्द नहीं थे, बल्कि उस पीड़ा का विस्फोट था जो सदियों के शोषण, तिरस्कार और बेबसी से उपजी थी। नानी गंदगी साफ करने का काम करती थीं और साथ ही दाई का कार्य भी। यह जीवन उनकी नियति नहीं थी, बल्कि उस सामाजिक व्यवस्था का परिणाम थी जिसने दलितों को भाग्यवाद और धर्म के नाम पर मानसिक रूप से जकड़ रखा था। हिंदू धर्मग्रंथों और संत-महात्माओं की वाणी ने संतोष को परम सुख कहकर दलित समाज को अपने दुखों को पूर्व जन्म के कर्मों का फल मानने के लिए तैयार कर दिया। फलस्वरूप, वे अपने भाग्य को दोष देकर चुप रह जाते हैं, प्रतिरोध नहीं कर पाते। विवाह जैसे संबंधों को भी ईश्वर की इच्छा मानकर स्वीकार कर लेते हैं- चाहे वह बेमेल हो, या पीड़ादायक। बाल-विवाह और वृद्ध पुरुषों से कन्याओं की शादियाँ मनुस्मृति जैसे ग्रंथों के हवाले से उचित ठहराई जाती हैं, जिसमें कहा गया है कि ***"लड़की की उम्र से तीन गुना बड़ा वर उपयुक्त है"***[11] धर्म और ईश्वर के नाम पर यह वर्ग अपने दुखों को भाग्य मानकर घुट-घुट कर जीता रहता है। प्रतिकार की चेतना धर्म की आड़ में कुचल दी जाती है। वे बेमेल विवाह को सहन करते हैं, अत्याचार को स्वीकार करते हैं, और शोषण को नियति मान लेते हैं। यह स्थिति केवल सामाजिक अन्याय की नहीं, बल्कि मानसिक गुलामी की भी द्योतक है। ग़रीबी, बीमारी और भूख से त्रस्त लोग जब असहाय होकर बीमार पड़ते, तो चिकित्सा की राह छोड़, आस्था की पगडंडी पकड़ लेते। ऊँचे पहाड़ों पर विराजमान देवी-स्थलों की ओर वे चल पड़ते, मानो वहाँ पहुँचना ही उपचार है। मोहन के बीमार पड़ने पर भी उसे देवी के थान ले जाया गया। किसी बालिका को जब 'मोतीझरा' रोग ने घेर लिया, तो परिवार देवी-देवताओं की शरण में गयाI मनौतियाँ माँगी गईं, नारियल और शक्कर का प्रसाद चढ़ाया गया। चिकित्सकीय सलाह से दूर, लोग बाबाओं के चक्रव्यूह में फँसे रहते। बाबाओं का वचन आदेश-सा होता- ***"पाँच मंगलवार तक बैठक के लिए आओ, तबीयत ठीक हो जाएगी।"***[12] दशहरे के दिन दादी पर 'बाबा' सवार हो जाते। वह झम-झमकर चलतीं, जैसे बाबा की कृपा उन्हें प्राप्त हो रही हो- ***"दादी उत्साह के साथ झम-झमकर आगे पीछे झुकते हुए चलती, मानो बाबा प्रसन्न हो रहे हैं"***[13] एक रात 'दाना बाबा' ने उनका शरीर अपना माध्यम बना लिया। वह बोले- ***"क्यों तुम इधर-उधर भटकते हो? घर के देवी देवताओं पर विश्वास नहीं है? किसलिए रोजी-रोटी के लिए अपनी जन्मभूमि छोड़कर भटकते फिर रहे हो।"***[14] उसकी ननद भी उसी भाव में बोलती- एक ऊँचे, दृढ़ स्वर में- ***"ऐ...तुम मुझे भूल गए? देखो यदि अच्छे रहना है, तो मीरा को नाराज नहीं करना।"***[15] यह सब देखकर शीला चुप रहती, विश्वास तो नहीं करती, पर प्रतिवाद करने की हिम्मत भी नहीं जुटा पाती। चाचा ससुर की बेटियाँ, रमला और कमलाबाई भी ऐसी ही देवी-भावना से ओतप्रोत थीं। वे ऊँचे स्वर में आदेश देतीं- ***"ऐ... शीला तू जानती है, हम कौन है? हमारी सेवा कर। तेरा भला होगा। हमारे नाम का दीपक जला।"***[16] शीला यह सब देखती, सुनती, भीतर ही भीतर संदेह करती, पर सामाजिक और पारिवारिक दबावों के चलते विरोध नहीं कर पाती। लेकिन जैसे-जैसे अनुभव बढ़ा, एक सच्चाई उसके सामने आईI डर तब तक भयावह लगता है, जब तक भीतर डर बना रहता है। उसे अंततः यह बोध हुआ- ***"डराने वाले के सामने शेर बन जाओ, तो वह भी दुम दबा लेता है।"***[17] दलित साहित्य की आत्मा प्रतिरोध में रची-बसी है। यह स्वर दलित सौंदर्यशास्त्र में केंद्रीय रूप से स्वीकारा गया है। लेखिका के बाल्यकाल की स्मृतियाँ इस प्रतिरोध को स्पष्ट रूप से रेखांकित करती हैं। सुशीला, एक अबोध बालिका के रूप में, प्रत्यक्ष विरोध में सक्षम नहीं थी, लेकिन उसके परिवेश- माता, पिता, और नानी की प्रतिक्रियाओं में यह प्रतिरोध बार-बार उभरकर आता है। माँ छुआछूत की मानसिकता से आक्रोशित होती थीं। जब पिता नशे में घर लौटते, तो गाँव के ब्राह्मणों और बनियों को कोसते हुए कहते- ***"इन्हीं लोगों ने हमें नीचा दिखाया है, अछूत और बेबस बनाकर रखा है। यही हमें आगे नहीं बढ़ने देते।"***[18] बालिका का भाई सवर्ण बच्चों से बराबरी की आकांक्षा रखता था और इस कारण कई बार विवादों में भी उलझ जाता था। जब नानी दूसरों के घर से जूठन लाने जातीं, तो पिता और भाई इसका विरोध करते। जाति-क्रम में स्वयं को उच्च मानने वाले मजदर जब छुआछूत बरतते, तो भाई तत्काल प्रतिक्रिया देता- ***"अगर हमसे इतनी घृणा है, तो हमारे साथ***

काम ***करने क्यों आते हो? बड़े बनो और अपने घर में रहो।”***[19] पिता उस समय भाई को शांत कर देते, लेकिन घर में आकर अपने क्रोध को गालियों के रूप में प्रकट करते- ***“जब हगते-मूतते हैं तब इन्हें घिन नहीं आती, पर हमसे बात करने में छूत लगती है! घर में फूटी कौड़ी नहीं, लेकिन ठाट देखो इनके।”***[20] यह स्पष्ट है कि सवर्ण समाज दलितों द्वारा किसी भी प्रकार की प्रश्नवाचकता को सहन नहीं कर पाता। शंकर भैया बचपन से ही संघर्षशील और निर्भीक थे। वे महाजनों के बच्चों से उलझ जाते और विरोध के कारण कई बार पिटते, फिर भी स्पष्ट कहते- ***“उसने मुझे मारा, इसलिए मैंने उसे मारा।”***[21] उनकी माँ भयभीत रहतीं और उन्हें भी डरातीं। यह भय केवल व्यक्तिगत नहीं था, बल्कि पीढ़ियों से संचित सामाजिक भय था जो नारी चेतना में संस्कार के रूप में बसा हुआ था। गाँव में जब भी कोई तनाव या झगड़ा होता, तो पिता अपने बेटों को किसी अन्य गाँव भेज देते। यह उनका विवशता-जन्य निर्णय होता क्योंकि सवर्ण उत्पीड़कों की करतूतों का आरोप अक्सर अछूतों पर मढ़ दिया जाता था। ***“हमारे गाँव के लोग हमेशा भय के साये में जीते थे।”***[22] दीपावली जैसे त्योहारों पर जब पिता मछली पकाने की ज़िद करते और माँ विरोध करतीं, तो वह तीखे स्वर में कहते- ***“ये त्यौहार हमारे नहीं हैं। हमारे पास लक्ष्मी है ही कहाँ कि हम उसकी पूजा करें।”***[23] यह विद्रोह केवल भोजन की थाली में नहीं, बल्कि सांस्कृतिक अस्मिता के दायरे में भी प्रतिध्वनित होता है। संपूर्ण रचना में प्रतिरोध के स्वर विभिन्न स्तरों पर दृष्टिगोचर होते हैं। हालांकि लेखिका स्वयं के जीवन में कई बार केवल मृदु विरोध ही दर्ज कर पाई। उन्होंने अपनी पढ़ाई की मांग में सफलता प्राप्त की और बाद में पति से भी शिक्षा का अधिकार प्राप्त किया। एक स्थान पर वे स्पष्ट स्वीकार करती हैं- ***“ज़ुल्म करने वाला जितना दोषी होता है, उससे अधिक दोषी उसे सहने वाला होता है, यह बात मैंने बाद में समझी।”***[24] पति की यातनाओं से उन्हें तब राहत मिली जब उनके बच्चे उनके समर्थन में ढाल बनकर खड़े हुए। वेतन मिलने के बाद भी उस पर अधिकार न होना, अत्याचार सहते रहना और पत्नीत्व के बिना जीवन जीना- ये सभी उस दलित स्त्री के जीवन के अभिन्न अंग रहे हैं, जो परंपरागत भारतीय समाज में सबसे अधिक वंचना की शिकार रही है। दलित महिलाओं की स्थिति समाज में सबसे दयनीय रही है। लेखिका की प्रेरणा माँ और नानी थीं, जिन्होंने अत्याचार सहकर भी जीवन जिया। विवाह के बाद ससुराल उनके लिए दूसरा बंदीगृह बन गया- पति क्रूर, सास-ननद चालाक, और घर में अपमानजनक व्यवहार। पढ़ी-लिखी होने के बावजूद उन्हें नौकरी के लिए मजबूर किया गया, लेकिन पहनने को ननद की पुरानी साड़ियाँ मिलीं और वेतन पति लेता रहा। छोटी-छोटी बातों पर पिटाई, अपमान, और संवादहीनता उनके जीवन का हिस्सा बन गए।

इस प्रकार दलित आत्मकथा न केवल साहित्य का हिस्सा है, बल्कि सामाजिक क्रांति की एक सशक्त अभिव्यक्ति है। यह हाशिए पर खड़े व्यक्ति की ज़ुबान है, जो सदियों के मौन को तोड़ती है और सामाजिक न्याय, समानता और मानवता की पुकार बनकर सामने आती है। दलित आत्मकथाओं का महत्व इसी में है कि वे समाज को उसका असली चेहरा दिखाती हैं और बदलाव की प्रेरणा बनती हैं।

****

सन्दर्भ सूची:

1. शिकंजे का दर्द, पृ. 18
2. (वही, पृ. 65)
3. (वही, पृ. 89)
4. (वही, पृ. 166)
5. (वही, पृ. 165)
6. (वही, पृ. 167)
7. (वही, पृ. 174)
8.(वही पृ. 77)
9.(वही पृ. 78)
10.(वही, पृ. 27)
11.(वही, पृ. 134)
12.(वही, पृ. 89)
13.(वही, पृ. 98)
14.(वही, पृ. 99)
15.(वही, पृ. 193)
16.(वही, पृ. 194)
17.(वही, पृ. 195)
18.(वही, पृ. 65)
19.(वही, पृ. 72)
20.(वही, पृ. 80)
21.(वही, पृ. 80)
22.(वही, पृ. 83)
23.(वही, पृ. 41)
24.(वही, पृ. 141)